श्रद्धा-कण

वियोगी हरि

१९४९
सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

अँधेरे में भटकती मानवता को
जिसने प्रतिक्षण प्रकाश-पथ दिखाया,
उसी करुणावतार महात्मा के
श्रीचरणों में —

दो शब्द

बापू की प्रथम बलिदान-तिथि के पुण्य-अवसर पर, दिल्ली में राजघाट पर, एक विशेष प्रकार की प्रदर्शिनी का आयोजन किया गया था, जिसमें बापू के अनेक प्रकार के चित्र, पत्र और दूसरी बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुएं संग्रहीत की गई थीं। इस 'गांधी-मंडप-प्रदर्शिनी' की आशातीत सफलता ने सबको प्रोत्साहित किया। विदेशी आगंतुकों, भारतीय विशेषज्ञों और जनता ने सर्वत्र इसकी सराहना की। प्रदर्शिनी की विशेषता उसकी कला-पूर्ण सादगी में थी। उसकी भावना और वातावरण ने हजारों लोगों को आकर्षित किया। एक बड़ा लाभ यह भी हुआ कि भावी संग्रहालय के लिए प्रर्याप्त सामग्री भी एकत्रित होगई।

श्री हरिजी उन कतिपय विद्वानों में हैं, जिनकी शक्ति बापू के विचारों तथा आदेशों को कार्यान्वित करने में वर्षों से लगी हुई है। इस प्रदर्शिनी के लिए श्री काकासाहब (कालेलकर) तथा श्री हरिजी ने काफी श्रम उठाकर कई सूक्तियां लिखी थीं, जिन्हें बड़े अक्षरों में छपवाकर स्थान-स्थान पर पोस्टरों की शक्ल में रखा गया था। उन रचनाओं ने गांधी-मंडप की उपयोगिता तथा विशिष्टता को कई गुना बढ़ा दिया था। अब श्री हरिजी ने अपनी सूक्तियों को 'श्रद्धा-कण' द्वारा, और स्थायी रूप देकर, जनता को अत्यन्त अनुगृहीत किया है।

देवदास गांधी

: १ :

चारों ओर दूर-दूरतक अंधेरा-ही-अंधेरा छाया था;
ऐसे में वह चुपचाप सुनहरी सीढ़ी से उतरा,
और उसने अपने शीतल दीपक का उजेला आंगन में
चारों ओर बिखेर दिया।

अंधेरे में टटोलते फिरते थे जो,
उन भूले-भटकों ने एक-दूसरे को तो पहचाना ही,
अपने आपको भी पहचाना।
महात्मा ने उन्हें प्रकाश दिखाया, और उदय दिखाया।
इसीलिए तो आज वे श्रद्धालुजन उसका पाद-पूजन कर रहे हैं;
और उनके पुण्योत्सव पर देवताओं ने भी पुष्प बरसाये हैं।

एक

: २ :

शताब्दियों से दूर अंधेरे कोने में वे दबे पड़े थे—
सांस भी खुलकर नहीं ले सकते थे ।
न उनके लिए धरती थी, न आकाश !
पैरों को, और हाथों को भी सांकल से जकड़ रखा था
उस प्राचीन देश के निवासियों ने—
किसीकी सांकल लोहे की थी, तो किसीकी चांदी की,
और किसीकी सोने की ।
वह महात्मा उस अंधेरे आयतन में पहुंचा,
उसने मोटी-मोटी दीवारें तोड़दीं—
खिड़कियां खोलीं, झरोखे बनाये,
और कोना-कोना प्रकाश और सुगंध से भर दिया ।
वे मुक्त हुए—बाहर से भी और भीतर से भी ।
अब धरती भी उनकी थी, और आकाश भी उनका ।
तब क्यों न वे मुक्तदेश के निवासी
उस महात्मा के चरणों पर बार-बार मस्तक झुकायें ?

: ३ :

जिन्हें ऊपर उठने के बल का पता भी नहीं था,
और जो दबे पड़े थे चट्टान को अपने आप ऊपर
गिराकर—
या नीचे को, अंधेरे गड्ढे में, फिसलते ही चले आ रहे थे,
उन्हें उस महात्मा ने सहारा दिया, साहस बंधाया।
उसका प्रकाश पाकर आंख खोली उन्होंने,
और अपने बल को समेटा,
और चट्टान को चूरचूर कर दिया।
वे मुक्तजन अब मुक्तिदाता के चरणों पर श्रद्धांजलि
अर्पण कर रहे थे।

: ४ :

अद्भुत चमत्कार था वह एक—

बिना आवाहन किये ही वह आ पहुंचा !

न वहां आसन था, न अर्घ्य;

और न चन्दन, न पुष्प ।

अच्छा हुआ कि उसे इस अर्चा-सामग्री की अपेक्षा भी नहीं थी ।

उसने स्वयं ही शंख-नाद किया,

और मूर्च्छितों को जगाया ।

प्रकाश-किरणें फेंकते हुए उस महात्मा ने कहा—

"आर्यशील को आचरित करो, यही मेरी अर्चा होगी;

जीवमात्र की पूजा करो, यही मेरे प्रति तुम्हारी

श्रद्धांजलि होगी ।"

: ५ :

वही तो पुण्य प्रभात था,

जब ऋषियों ने मधुरस्वर में आर्यशील का मंगल गायन किया था।

उसी प्रभात-गायन के ताल-स्वर से राष्ट्र की संस्कृति ने आंख खोली थी।

किन्तु कालान्तर से आर्यशील की अवहेलना होने लगी।

अथवा, पात्र में छिद्र-ही-छिद्र हो गये, और अमृत ठहर न सका।

संस्कृति के पलक गिरे——

पहले तो निद्रित, और फिर वह मूर्च्छित हो गई।

महात्मा से यह मोहाक्रमण न देखा गया।

उसने तपद्वारा आर्यशील का आवाहन किया,

और फिर करुणा के ठंढे छींटे छिरककर मूर्च्छित संस्कृति को जगा दिया।

ऋषियों ने फिर उसी मधुरस्वर में मंगल गायन किया।

: ६ :

"उसने उन्हें स्वातंत्र्य और स्वराज्य दिलाया"—

यह उस महात्मा का पुण्यस्मरण नहीं।

क्योंकि मात्र यही उसका जीवन-संदेश नहीं था।

उसने जो असीम प्रकाश फैलाया,

उसमें वे अपनेआपको पहचानें—

यही उस महात्मा का श्रद्धापूर्ण स्मरण और पूजन होगा।

स्वतंत्र राष्ट्र के कृतज्ञ निवासी उसकी पुण्यस्मृति में

महोत्सव मनायें—

और उसका इसी विधि से स्मरण करें, इसी विधि से पूजन करें।

: ७ :

नगर के कोलाहल से दूर बांस औ' फूस की झोंपड़ी डालली,
और उसमें जाकर वह बैठ गया—
प्रायः मौन, और कभी-कभी आंखों पर पट्टी चढ़ाकर भी;
पर वह निर्जन स्थान भी धीरे-धीरे जनाकीर्ण होने लगा।
लोग अपने अनेकविध प्रश्न और गाथाएं ले-लेकर पहुंचे।
जितना ही वह तपःसाधना में निरत होता,
उतने ही वेग से उसके अंतर से करुण-निर्झर फूट पड़ता—
और अधिकाधिक जन उसकी झोंपड़ी या उसके महल के
चारों ओर इकट्ठे हो जाते,
और कई तो वहीं बस भी जाते थे।
उन सबको छोड़कर यों राष्ट्र के स्नेहशील वृद्ध पिता को
शांति-सुख किसी निर्जन स्थान में मिलता भी तो नहीं।

: ८ :

आंग्ल-सत्ता का उसने ध्वंस किया,—

यहीं उस महात्मा का पुण्यचरित समाप्त नहीं हो जाता।

लंका-विजय के साथ राम-चरित की इति कहां हुई थी?

वह ध्वंस-प्रकरण तो सत्य के सामने पड़ा मात्र एक आवरण था—

उसे हटाकर वह महायात्री अनन्त प्रकाश की ओर बढ़ता जा रहा था।

उसके पुण्यचरित की 'इति' तो तब हुई,

जिस क्षण उसने अहिंसा को अंतिम आलिंगन दिया,

और अन्तःसत्य का सम्यक् दर्शन किया।

: ९ :

वह प्रशांतात्मा प्रार्थना-भूमि पर प्रवचन कर रहा था।

एक दिव्य दृश्य था वह !

हिमांचल के अंक से जैसे अलकनन्दा पुण्यकण बरसा रही हो;

अथवा, आश्रम का पवन चारों ओर हवन-गंध बिखेर रहा हो;

और यह भी देखा—

जैसे मानस में से पंख फुलाये हंसों की शुभ्र पंक्ति

निकल रही हो।

प्रार्थना-भूमि पर निरन्तर निःश्रेयस झर रहा था

उस प्रशांतात्मा की शरद्वाणी से।

: १० :

सो, उसके सहस्रों अनुयायी बन गये—
और जयकार तो उसका लाखों-करोड़ों ने बोला।
कोई तो धीरे-धीरे चलते,
और कोई उसके पीछे-पीछे दौड़ते थे।
यात्रा का पाथेय किसीने तो कठोर आग्रह को बनाया,
और किसीने बारबार के अनाहार को।
कितने तो कारागृह को ही योगपीठ बना बैठे।
किसीने उसे द्रव्य दिया, और किसीने श्रद्धा-दान—
और किसीने आगे बढ़कर उसके साथ अपने चित्र खिचाये।
पर अनुसरण उसके पद-चिह्नों को देख-देखकर बहुत ही
थोड़े अनुयायियों ने किया,—
और अलक्ष्य अनुकरण तो लाखों ने।
अंत में, वह महायात्री पवन-वेग से अपने अनंत लक्ष्य की
ओर बढ़ा,
और अब अकेला ही चल रहा था;
वे सब पीछे ही छूट गये।
कुछ ने तो फिर भी उसकी छाया को छूने का यत्न किया,
और कुछ, उसने पीछे जो धुंधला-सा वातावरण
छोड़ा था, उससे लिपट गये।
इतिहास फिर एक बार अपनी पुनरावृत्ति पर मुस्कराया!

: ११ :

कैसा जागरूक था वह !

अहिंसा की ज्योति को उसने एक क्षण भी क्षीण तो

नहीं होने दिया ।

सत्य के दीये में हरदम वह रोम-रोम से स्नेह उंडेलता रहा;

और हर सांस को राम-नाम की लौ से जोड़ता रहा ।

और तन के तार-तार से उसने प्रेम का सुर निकाला ।

हां, काल ने एक पल भी उसे अचेत नहीं पाया ।

: १२ :

उस शिल्पी ने तो बिना धार के पुराने औजारों से भी काम
ले लिया था।

पाषाण-खंड खुरदरा था, टांकी मोथरी,
और हथौड़ा भी टूटा-फूटा।

किन्तु प्रतिमा उसने इतनी सुंदर गढ़ी, कि
देखकर विश्व विस्मित रह गया।

इसलिए कि उस शिल्पी ने प्रतिमा में अपने प्राणों को
प्रतिष्ठित किया था।

प्राण-प्रतिष्ठा जब उसने की,
तब देव-प्रतिमा से भी कहीं अधिक उस शिल्पी की दिव्य
देह पर पुष्पों की वर्षा हुई थी।

: १३ :

जब वे उसे अपने अनेक कलापूर्ण चित्र दिखा चुके,
तो उसने उन्हें सलाह दी—
"जाओ, सामने की उस झोंपड़ी की कच्ची दीवारों पर भी
कुछ चित्र बना डालो—
"हरे-हरे दोनों में लाल, पीली, सफेद मिट्टी वहीं से ले-
लेकर घोललो;
"और विविध पत्तियों का रस निचोड़-निचोड़कर
अपने रस के हलके-गहरे रंग उनमें भरलो—
"फिर चित्र खींचो ग्रामीणों के त्योहारों, उत्सवों और
उनके अनेक स्वप्नों के।
"और देखो, उन चित्रों की मोटी-पतली रेखाओं पर
अपने अंतर के स्वर्ण-चूर्ण को जहां-तहां बिखेर देना।"
फिर, ऐसी ही सलाह अपने आसपास खड़े दूसरे
कलाकारों और शिल्पियों को भी उसने दी।

तूलिका और रंगों पर गर्व करनेवाले कलाकार

हैरान थे—

कि उनकी आड़ी-सीधी रेखाओं की सूक्ष्म अभिव्यंजना को

उसने वैसा सराहा नहीं—

उनके चित्रों को उसने ऊपर-ऊपर से देखभर लिया था।

वे नहीं जानते थे कि—

उसकी दृष्टि तो अंतर्पट पर अंकित उस सुंदरतम चित्र

पर गड़ी हुई थी,

जिसकी सारी रेखाएं प्रकाश-ही-प्रकाश से फूटी थीं।

उस चित्र पर उसकी दृष्टि केंद्रित थी,

जो मानव और प्रकृति के सुंदर सामंजस्य की ओर

क्षण-क्षण संकेत कर रहा था।

: १५ :

कलाकार कोई तो उसपर तरस खाते थे,

और कोई उसे देखकर हैरान होते, और हंसते थे।

इसलिए कि वह न तो उनकी किसी कला-कृति पर

मुग्ध हुआ था,

और न उसने, उनकी आंख से, सौंदर्य की बारीकियों को

ही पहचाना था।

पर वे सब नहीं जानते थे कि—

वह स्वयं उस कला का दर्शक था,

जो मानव को अंधकार में से खींचकर प्रकाश की ओर

ले जाती है,

जो मृत्यु से अलगाकर अमृतत्त्व का आलिंगन करा देती है।

: १६ :

और इसी तरह यह भी सुना गया कि,

छत्तीसों राग-रागिनियों के मधुर स्वरों से वह कभी भी

आकर्षित नहीं हुआ ।

यह नहीं कि उसने संगीत सुना नहीं—

सुना, किंतु कलावंत के कान से नहीं ।

क्योंकि संगीत के बाहर न रहकर वह उसके अंतर्प्रवेश में

पैठ गया था ।

कहना चाहिए कि,

उसके रोम-रोम ने अंतर्नाद का मधु-रस पिया था,

और अंतर्नाद से ही तो सातों स्वर और छत्तीसों

राग-रागिनियां प्रस्फुटित हुई हैं ।

कैसी अशुभ घटना थी वह !

युग-युग के जिन संस्कृति-चित्रों पर गर्व किया जाता था,
वे सब पुंछते-मिटते चले जा रहे थे,
और दीवारों में नित्य-नित्य दरारें पड़ती जा रही थीं।
बिना ही बुलाये एक अनजान चित्रकार वहां उतरा,
और एक दृष्टिपात में ही उसने सब कुछ समझ लिया।
फटी धूमिल दीवारों के सामने दृष्टि साधकर वह तपःसाधना
करने बैठ गया।
और लो, वे सारे-के-सारे पुंछे-मिटे संस्कृति-चित्र
फिर से वैसे-के-वैसे उभर आये—
और वे दीवारें भी वज्र की जैसी हो गईं !
उपासकों को उन प्राणवंत चित्रों में मानो
अपनी नष्ट संपदा मिल गई।
उस सांस्कृतिक पुनर्भव के महोत्सव में उस अनजान चित्रकार के
चरणों पर उन सबने बार-बार अपने मस्तक झुकाये।

दयार्द्र महात्मा ने अन्ध हठ को चक्षु-दान दिया—

और उसका वह जड़ रूप न रहा!

इस भव्य रूपांतर को उस सत्य-शोधक ने 'आग्रह' कहा,

जिसे सत्य ने अंगीकार किया,

भक्ति-भावना ने जिसे रसयुक्त बना दिया,

और क्रिया से जिसे नई-नई प्रेरणा मिली।

सत्य का सम्यक् आग्रह था यह।

अंत में, यही उस युग-पुरुष का ब्रह्मास्त्र बना।

सत्याग्रह उसका वह ब्रह्मास्त्र बन गया,
जिसके बल पर सर्वोदय अपना जयस्तंभ खड़ा
कर सका।
अन्य सब अस्त्रों ने भी समय-समय पर लोकोदय के
बड़े-बड़े दावे उपस्थित किये,
पर ऐसे हरेक दावे की नींव खोखली ही पाई गई।
अंदर झांककर देखा तो यही पाया कि—
जन-संहार की उपयोगिता सिद्ध करने की नीयत से ही
लोकोदय के भड़कीले विज्ञापन उन्होंने जहां-तहां
चिपका रखे थे।

कहां, किसे विश्वास होता था ?

हां, कौन मानता था कि—

वज्र को वह फूलों के हथौड़े से चूरचूर कर देगा !

वह अपने निश्चल आसन पर निष्कंप बैठा था,

और उसके सत्याग्रह की प्रचंड अग्नि जल रही थी।

प्रतिपक्षियों ने जितने भी अस्त्र-शस्त्रों का उसपर प्रयोग किया,

सब उस अग्नि में पिघल-पिघलकर गल गये।

ब्रह्मर्षि के तपोबल के आगे वे ठहर न सके।

उसके हथौड़े से, जो फलों का था, वज्र चूरचूर हो गया !

: २१ :

रामराज्य का चित्र दिखलाते हुए

उस युग-गुरु ने इंगित से बताया था—

"राजनीति तो धर्म की चेरी है।"

अर्थ वे समझे नहीं;

क्योंकि मोहिनी राजनीति झरोखे से झांक-झांककर

उन्हें लुभा रही थी।

और उसने यह भी बताया था—

"यंत्र तो मनुष्य का दास है।"

वे इसका भी अर्थ नहीं समझे;

क्योंकि सामने विराट् उत्पादन-चक्र सतत घूम रहा था,

और तरल तृष्णा की लाल-लाल लपटें उन्हें खींच रही थीं।

: २२ :

छूना वर्जित था जिनका,

आग की उन लपटों की ओर वे अपनेआप

खिच गये—

बारबार उनका स्पर्श किया,

और फिर छाती से चिपटा लिया !

और, लो, वायु की शीतल लहरों से वे दूर-दूर रहे !

हृदय से लगाना तो दूर,

उनका स्पर्श भी नहीं किया,

छाया भी नहीं पड़ने दी !

और फिर इस विपर्यय को धर्माचार कहा उन्होंने !

उस महात्मा से यह अनाचार नहीं देखा गया।

धधकते अग्नि-कुंड में वह धड़ाम से कूद पड़ा—

उनके महापाप को भस्मसात् करने के लिए।

उन सबकी आंखों के आगे से मूर्च्छा का काला आवरण उठा,

और अस्पृश्यता का अंत सामने क्षितिज को छूता दिखाई दिया।

वृद्ध साधु की करुणा ने मानव के हृत्कमल पर खिची

काली रेखाएं धो डालीं।

उसकी जय हो, जय हो !

: २३ :

सारा देव-स्थान सूना-बिसूना-सा पड़ा था।
भूत-जैसी खड़ी काली-काली दीवारें;
ध्वज-दंड भग्न;
शिखर श्रीहीन;
स्वर्ण-कलश में भी दीप्ति नहीं—
और शंख-नाद भी निष्प्राण।
क्योंकि देवता ने घृणा और ग्लानि से मंदिर त्याग दिया था।
बाहर, दूर, उसके कुछ दर्शनार्थी तिरस्कृत खड़े थे।
वहीं, उन्हींके बीच, देवता भी एक ओर सिर नीचा
किये खड़ा था।
और कपाट बंदकर भीतर वे पुजारी पाषाण-प्रतिमा का
पूजन-अर्चन करने में व्यस्त थे।
महात्मा के तपोबल से एक दिन आप ही वज्र-कपाट खुल गये,—
और उन तिरस्कृत भक्तजनों ने पुष्प-मालाएं लेकर
देवस्थान की देहली पर पैर रखा।
प्रतिमा पुनः दीप्तिमान हो उठी;
मंदिर की दीवारों पर रक्ताभा खिल गई;
मंगल-ध्वज फहराने लगा;
शिखर पर जैसे किसीने गुलाल बिखेर दी;
स्वर्ण-कलश चमचमा उठा;
और शंख-नाद ने भक्तों के अंतस्तल को अनुप्राणित
कर दिया।
पुजारियों ने उस मंगल-वेला में देवता की पूजा न कर
उसके उन भक्तजनों की पूजा की।

: २४ :

अंधे तर्क का कांपता हुआ हाथ पकड़ा,
और उन पंडितों ने धर्मतत्त्व को अंधेरे में जहां-तहां
टटोला।

श्रुतियां भी वहां एकमत से साक्ष्य न दे सकीं;
तथा आर्ष प्रमाण भी लड़खड़ाते देखे गये!
यहांतक फिर भी ठीक!
किंतु उस सत्यशोधक ने देखा,—
कितने ही बड़े-बड़े धुरंधर धर्मतत्त्व का आभास पकड़े बैठे हैं,
और उसका योगक्षेम काम, क्रोध एवं लोभ के अस्त्रबल से
करना चाहते हैं,
तब उनके उद्धत अज्ञान पर उसे दया आई,
और उसने उनके व्यामोह को जाकर झकझोर डाला।
महात्मा के इस साधु कृत्य का आभार मानना तो दूर,
उलटे, उसपर वे तिलमिला उठे।
दांत पीस-पीसकर कहने लगे—
"यह मनुष्य तो धर्म का सर्वनाश कर रहा है!"

: २५ :

मानव की दुर्बल उंगलियों ने ऐसी एक भेद-रेखा

खींच रखी थी,—

'साध्य का रंग श्वेत है, तो फिर साधनों के रंग

काले, लाल या कैसे भी हों।'

युग-गुरु ने कहा—

"तुम्हारी मिथ्या दृष्टि है यह।"

हां, पहुंचना तो मनुष्य ऊपर चाहता था,

पर उतर रहा था वह नीचे, और नीचे!

दृष्टि तो थी ऊपर की ओर,

पर पैर उसके फिसलते जा रहे थे नीचे को!

इसीलिए तो उस सदात्मा ने बारबार कहा था—

"साध्य और साधन के बीच तुमने जो यह मोटी

भेद-रेखा खींच रखी है इसे मिटावो।"

: २६ :

आश्चर्य हुआ, और आतंक भी।

यंत्र को विराट् समझ लिया गया,

और उसकी पूजा-अर्चा होने लगी!

यह देखकर उसकी मुख-मुद्रा गंभीर हो गई,

और उसने दृढ़ता से कहा—

"यह ग़लत है, अनुचित है,

पूजा-अर्चा तो मानव की ही हो—

उसके श्रम की ही हो;

क्योंकि वही विराट् है, वही चिरंतन है।"

: २७ :

उनके पूछने पर उसने वज्र की जैसी दृढ़ता से कहा—

"हां, चरखे का यही कच्चा तार राष्ट्र के

भाग्य का ताना-बाना बनेगा।"

सुनकर कवि-कल्पना हंस पड़ी;

वकील की दलील ने अनसुना कर दिया;

और राजनेता की प्रतिभा ने भी पीठ फेरली।

ग्रामजनों ने, निस्संदेह, उसकी श्रद्धा पर विश्वास किया,

और उन्हें अंधश्रद्धालु कहा गया।

पर वह तो सूत का तार खींच-खींचकर ही आगे बढ़ा,

और बढ़ता ही गया—

कुतूहल से, पीछे, कवि, वकील और राजनेता भी

उसके पीछे हो लिये।

और लो, जो धारणा उस दिन उपहास्य और

असंभव-सी दिखी थी, वह सत्य उतरती दिखाई दी।

राष्ट्र का भाग्योदय हुआ; वह मुक्त हुआ।

फिर तो कवि ने भी गांधी महाराज की स्तुति की;

वकील की दलील ने भी सिर झुकाया;

और अंत में राजनेता की प्रतिभा ने भी हार मानली।

: २८ :

उसने अपने तन से एक-एक तार खींचा,

और राष्ट्र के भाग्य-पट को जीवन भर बुना--

क्योंकि वह महात्मा जुलाहा था।

और वह भंगी भी था--

उसीने तो राष्ट्र के बाहर और भीतर का

सारा कूड़ा-कचरा साफ़ किया।

: २६ :

नारी के शील-पूरित नेत्रों ने कृतज्ञता प्रकट की,

जब उससे उस महात्मा ने कहा :

"तू कल्याणदात्री अग्नि है;

तू पुण्यसलिला गंगा है।"

पुरुष ने कामना की राख से अग्नि को ढक दिया था !

और पुण्योदक को वासना के पात्र में भर रखा था !

जिस दिन वह 'पाषाणी' बना दी गई

राष्ट्र के श्री-स्रोत सब सूख गये।

मूर्च्छित शक्ति को महात्मा ने आकर जगाया—

और राष्ट्र के श्री-स्रोत फिर हरे होने लगे।

अपने समुद्धार के पुण्यपर्व पर नारी ने जन-जन को

शील-दान दिया, शक्ति-दान दिया।

उसने गौ के नेत्रों में समस्त मूक सृष्टि का दर्शन किया।

उस स्वच्छ दर्पण में उसने देखा—

करुणा छलक रही है, वात्सल्य उमड़ रहा है।

तब मूच्छित राष्ट्र को जगाते हुए उसने कहा—

"मातृ-सेवा कर, तू श्री-संपन्न हो जायेगा।"

और यंत्रवादियों को भी पूर्व चेतावनी दी—

"सावधान ! पृथिवी का शोषण करते हुए भूल से
कहीं मातृ-वध न कर बैठना।"

ऐसा था वह वृद्ध गोपाल।

: ३१ :

उसने कहा—

"बोलो, और तुम्हारी वाणी से शत-शत फूल झरें,

और सबके अंतर पर बिखर जायें।

तुम्हारी वाणी को सब अपनी-ही वाणी मानें,

वही सबकी बोली होगी—

राष्ट्र की ही नहीं, अखिल जगत् की।"

पर उन्होंने उसका आशय नहीं समझा।

वे जैसे दिङ्मूढ़ हो गये—

शब्दों के आत्मैक्य के बदले वे शब्दों के वैक्य साधने का

प्रयास कर बैठे !

: ३२ :

उसने कभी पढ़ा था—

"तथागत ने मार पर जय पाई, और चारों आर्यसत्य सामने आ गये।"

वह इसी बोधि-पथ पर चला।

वासना को पैरों तले कुचलकर उसने सत्य का साक्षात्कार किया।

उसने प्रार्थना में गाते हुए सुना था—

"वैष्णव वह, जो दूसरों को भी अपने संपर्क से वैष्णव बनाले।"

उसने हरि का मार्ग पकड़ा, जो शूरवीरों का था,—

और अपने साथ कितनों को ही वैष्णव बना लिया।

फिर एक दिन उसके कान में यह भी पड़ा—

"सिर अपना उतारदे, और प्रेम का अमृतफल तोड़ले।"

यह भी उसे सस्ता ही जंचा,

और सौदा कर बैठा।

और प्रेम का अमृतफल तोड़कर दूसरों को भी खिला गया।

: ३३ :

आशा और आसक्ति को उस महात्मा ने इस तरह

अलग-अलग कर दिया,

जैसे दूध में से पानी को।

आशा का उपयोग उसने सत्य के सतत परीक्षण

और सम्यक दर्शन में किया।

तप उसका कितना प्रखर था, कि—

आसक्ति आप-से-आप भाप बनकर उड़ गई।

: ३४ :

पीछे-पीछे लाखों-करोड़ों कंठ जयकार बोलते जाते थे—
पर वह तो अकेला ही चुपचाप अंधकार को चीरता
हुआ आगे बढ़ा,

और ऊंचे-ही-ऊंचे चढ़ता गया।

सारे यात्रियों का रास्ता वह अकेले ही चला,

सबका बोझ उसने अकेले ही ढोया;

क्योंकि उसको 'सर्वोदय'-देश की यात्रा थी।

: ३५ :

जिसे भी खींचना चाहा, उसके मानस-पट पर

वात्सल्य-दृष्टि के श्वेत-श्वेत पुष्प छितरा दिये,—

और वह तत्क्षण खिंच आया,

जैसे चुंबकीय आकर्षण था उसकी स्नेह-दृष्टि में।

और जिसके भी अंतर पर आशिष के स्पर्श-कण बिखेर दिये—

वह तत्क्षण कंचन में पलट गया,

जैसे पारस था उसके आशिष में।

उसने तो सदा यही कहा—

"मैं तो एक सामान्य मानव हूं।"

इसीलिए तो वह पूर्णत्व प्राप्त कर सका।

किंतु भक्तों ने उसे मानव से परे अथवा भिन्न जाति का

जीव मान लिया।

राम, कृष्ण और बुद्ध को भी उन्होंने इस धरा-धाम पर

मानव नहीं रहने दिया था।

यह कैसी क्या बन गई प्रकृति, कि—

देवलोक में ही भक्तों की भावना विकसित होती है!

जबकि उस महात्मा ने बारबार कहा था—

"तुम तो श्रद्धा के सहारे इस लोक के मानव में ही

सत्य को खोजो, और उसे आत्मसात् करलो।"

उसने कहा—

"राष्ट्र अपने अंतर को स्वच्छ और स्वच्छतर बनाये,

और अपनेआपको सर्वोदय के आंगन में निस्संकोच बिखेरदे,—

स्वाधीनता स्वयं उसका द्वार खटखटायेगी।"

और हुआ भी यही।

जैसे, स्वतः रस-स्निग्ध पुष्प के अंतर्द्वार खुल गये।

: ३८ :

उन सबने तो हिंसा को ही 'प्रकृति' मान लिया था।

किंतु उस महान् सत्यशोधक ने उसे सदा सर्वथा

'विकृति' ही कहा।

पूर्वकालिक ऋषियों ने उसकी इस श्रद्धा एवं धारणा पर

अपना हर्ष बरसाया।

और सत्य ने भी इसी निष्कर्ष को स्वीकार किया।

समत्वयोग की भूमिका पर हिंसा अपना अस्तित्व

कहां सिद्ध कर सकती थी?

: ३९ :

महात्मा ने तो सदा सहज सत्य का अनुसरण करने को

कहा था ।

ऐसा किया होता तो अबतक उन सबके अंतर का कोना-कोना

आलोक से भर जाता ।

विफल अनुकरण ही किया उन्होंने—

उसके प्रत्येक पके-अनपके प्रयोग का,

और उसकी प्रत्येक बाह्य चेष्टा का भी !

क्षण-क्षण अहंकार को पोषण दिया, कि

ऊपर के उपकरणों को बटोर-बटोरकर

वे भी महात्मा बन जायें !

कैसा भारी भ्रम था !

बारबार उसने सचेत किया था—

"मैंने क्या-क्या कहा उसके अक्षरों से न चिपट

बैठना तुम लोग;

तुम तो अंतर्निहित अर्थ को ग्रहण करना—

और वह भी सत्य के कांटे पर तोल-तोलकर।"

पर उपेक्षा से देखा गया उसकी चेतावनी को,

और वे अनुयायी अक्षरों को ही पकड़कर बैठ गये!

पत्थर को देवता न बनाकर देवता को पत्थर बना देना ही

अनुयायियों का स्वभाव सदा से रहा है क्या?

: ४१ :

उसने लंगोटी धारण की,

और राजमुकुट उसके चरणों पर लोटने लगे !

अकिंचन को उसने छाती से लगाया

और राजलक्ष्मी कांप उठी !

आक्रांता से जब उसने कहा—

"भूमि छोड़कर चले जाओ।"

आक्रांता ब्रह्मशाप का सामना न कर सका,

उसे जाना ही पड़ा।

उसके अस्त्र-शस्त्र काम न दे सके।

कैसा अपूर्व अद्भुत चमत्कार !!

वे दोनों भाई धर्म की रक्षा करने चले थे।
हिंसा और प्रतिहिंसा के सहारे वे धर्म-पथ पर
चल रहे थे !

मानव से यों वे दोनों देवता बनने जा रहे थे,
और इसीलिए वे हिंस्र पशु बन गये !
दोनों ने दोनों का रक्त-पान किया,
और नारीत्व का लज्जास्पद अपमान भी--
दोनों के घर धायं-धायं जल उठे।
उन मानव-पशुओं द्वारा रचे अग्नि-दाह को
उस महात्मा ने बुझाना चाहा।
सैकड़ों घड़े पानी डाला उसने;
पर वह बुझी नहीं; और-और भड़कती गई।
दोनों ने एक-दूसरे के हृदय को चीर-फाड़ डाला था,
दोनों रक्त से नहाये हुए थे।
पशु से आक्रांत मानव जब किसी भी तरह न जागा,
तब, अंत में उस परमदयालु ने
भाई-भाई के फटे-कटे दिलों को अपने रक्त की लेई से
जोड़ दिया।
हिंसा-प्रतिहिंसा ने दोनों का हाथ छोड़ दिया।
अब वे पशु नहीं, मानव थे।

: ४३ :

चारों ओर आग धायं-धायं जल रही थी,

और वह उस दावानल के बीच निश्चल निष्कंप खड़ा था !

सर्वोदय की पुण्याशा का हिम-स्पर्श

वह वीतराग वहां, उस भयंकर अग्निदाह में भी, पा रहा था ।

अथवा, आशा के रजत-पात्र में दावानल को

उंडेल-उंडेलकर वह पीता जा रहा था ।

और उस अनल-पान की अंतिम घूंट ?

उसे तो वही जाने ।

अपनी बलि चढ़ादी, और वह सारे विश्व-ब्रह्मांड में भर गया

बूंद से जैसे महार्णव बन गया।

मृत्यु बेचारी !

उसे तो केवल उसकी छाया हाथ लगी !

उत्सर्ग की महिमा को उसने दिग्दिगंत में कितना फैला दिया,

कितना विराट् बना दिया !

उसके सिधार जाने के पीछे एक-दो शोकाकुल शिष्यों ने तो
यहाँतक कहा—

"वह तो गया—अब किससे पूछें ?

क्या अच्छा हो कि कुछ क्षणों के लिए वह लौट आये,

और बता जाये कि—

उसके इस देह-पिंड का अंतिम संस्कार हम किस विधि से करें।"

उन शिष्यों की यह उत्कट भक्ति-भावना थी,

या पराश्रय की पराकाष्ठा ?

निश्चय ही उस युग-गुरु ने इस प्रकार की धर्म-देशना
कभी नहीं दी थी।

वह तो आंखों को खोलने आया था, बंद करने नहीं।

: ४६ :

निराला ही रहा है राज-शासन का अपना मार्ग—
हर जगह, हर समय।

गांधी की शव-यात्रा का भी आयोजन उसने
अपने ही ढंग से, अपने ही मार्ग से किया था।

भारी-भारी शस्त्रास्त्र-सज्जित रथ,
और आतंककारी सैनिक अभियान!
शासन के लिए सहज भी यही था।

अहिंसा के प्रति भी शासन के हाथों से ऐसी ही
श्रद्धांजलि दी जा सकती थी!

ऐसे ही, गांधी-सिद्धांतों का प्रतिपादन और प्रचार भी
वह अपने ही ढंग से करेगा।

भय है कि राज-शासन द्वारा किये गये श्रद्धा-दान पर
मोहित प्रजा कहीं अपनी निज की निष्ठा न खो बैठे,
और कहीं निष्क्रिय न हो जाये।

नन्हे मुन्ना ने सूना-सूना देखकर प्रातः उठते ही पूछा—

"तब क्या हमारे बापू फिर नोआखाली चले गये ?"

घर के रोते-विलपते लोगों से कोई उत्तर न बन पड़ा।

"न, अपने सेवाग्राम चले गये वे—"

अपनेआपके इस उत्तर से भी उसे पूरा संतोष नहीं मिला।

अबोध विस्मित बालक से क्यों किसीने नहीं कह दिया,—

"तेरा प्यारा बापू तो, मुन्ना, तेरी फूल-सी मुस्कराहट में

कल सांझ को समा गया !"

सयानों की चतुर दुनिया से बच्चों के बापू का मन

बहुत ऊब गया था।

: ४८ :

नन्हे-नन्हे बच्चों को विश्वास था कि—

उनके बापू बहुत दूर नहीं गये होंगे; वे कुछ ही क्षणों में

उनके पास फिर लौट आयेंगे।

संशय बच्चों के समीप जाने से कांपता है न!

सयानों की यह भारी समझ क्यों गवां बैठी वह अनमोल रत्न—

बच्चों के जैसा सरल विश्वास!

नहीं तो वे सयाने भी उसकी अमरता में वैसी ही

जीवित श्रद्धा रखते होते।

और प्रेम-प्रीति को हाथ से इस बुरी तरह न गवां बैठते।

उन्होंने कहा—

"अच्छा होता कि उसकी पूजा हम उसीसे पूछ-पूछकर
किया करते।

पर वह अब कहां लौटकर आयेगा!"

यह कुछ कठिन तो नहीं।

उसकी जीवन-पुस्तक उनके सामने सदा खुली पड़ी है—

उसे वे रोज़ देख लिया करें।

पर डर है कि पुस्तक के स्वच्छ पन्नों को कहीं वे अपनी
अंधी भावना का रंग उंडेलकर बिगाड़ न दें।

: ५० :

उसके भी नाम पर मेला भरा, और बाज़ार भी ।

कला-प्रदर्शन, और ग्राम-उद्योगों के भी आयोजन हुए ।

हाट-बाज़ार में चार-पांच दिन खूब चहल-पहल रही;

और उस कोलाहल के बीच—

उसके विविध सूत्रों पर विचार-मंथन भी खूब हुआ ।

जहां, मेले की हाट में किसीने कुछ महंगा बेचा,

और किसीने कुछ सस्ता बिसाहा ।

महात्मा ने भी शायद उस मेले को अंतरिक्ष से झांका हो—

पर जिस महा महंगी वस्तु को उसने सिर देकर बिसाहा था,

उसका भी क्या कोई गाहक उस मेले में पहुंचा था ?

: ५१ :

वह गया, वह गया सत्य का प्रकाश-पथ दिखाकर,
अहिंसा का अनुपम धर्म सिखाकर।
अब तो युग-मानव, हृद्देश में, सद्विवेक की संस्थापना करे,
यही उसका, महात्मा के चरण-चिह्नों का, अनुसरण होगा।
अब तो युग-मानव आर्यशील की दीक्षा ग्रहण करे,—
यही उस महात्मा के पाद-पद्मों की अर्चा होगी।

: ५२ :

जिस धरती पर बैठकर उसने प्रकाश-किरणें फेंकी थीं,
वहां की मिट्टी खोद-खोदकर भक्तों ने ले जानी चाही,
और उन वृक्षों की पत्तियां और डालियां भी तोड़ डालीं,
जिनकी छाहंतले उस महान् यात्री ने विश्राम किया था।
आश्चर्य कि, उन्होंने उन प्रकाश-कणों को न बटोरा,
जो कि उसने चारों ओर फेंके थे !
हाथ उनके केवल मिट्टी के ढेले और वृक्षों की पत्तियां ही लगीं !
जैसी श्रद्धा वैसी प्रसादी।

: ५३ :

न जाने कितने छोटे-बड़े यात्री—

किस-किस देश के और किस-किस समाज के,

उसकी जीवन-साधना से प्रेरणा ले-लेकर चले थे,

आज भी चल रहे हैं, आगे भी चलते रहेंगे।

और कुछ यात्री तो अवश्य अपने लक्ष्यस्थल पर

पहुंचे होंगे;

आगे भी शायद कुछ पहुंचें!

उसके दिखाये प्रेम-पथ में न कोई शंका है, न उलझन।

: ५४ :

इसमें क्या विशेषता कि,—

दूसरे राष्ट्रों के साथ उस महात्मा के देशवासी भी

कांच के रंग-बिरंगे टुकड़े बटोर लाने के लिए

उनकी घुड़दौड़ में हिस्सा लें ?

उस सद्गुरु ने तो उन्हें गहरे पानी में पैठकर

असली रत्न खोज लाने की शिक्षा दी थी।

उसे वे भूल न जायें।

: ५५ :

उसने यही सदा सिखाया—

"प्रेम तो सिर का सौदा है;

सत्य का व्यापारी ही इस हाट में पैर रख सकता है।"

उन सब संतों ने भी ऐसी ही साखियां कही थीं—

साखियां सुनने में प्यारी, गाने में मीठी।

पर उस विकट बाट पर पैर रखे कौन ?

और कौन उस हाट में पैठे ?

पर उसका जो अनुयायी बनना चाहे, उसके लिए कोई

दूसरा मार्ग ही नहीं।

: ५६ :

अंततक वह सत्य की गहरी-से-गहरी शोध करता रहा;

प्रयोगों की मानो माला ही गूंथ डाली।

और वे सब उस सतत प्रवाह को आज भक्ति-भावना के

भीतर आबद्ध कर देना चाहते हैं !

प्रकाश मिले कि वे भक्तजन अनंत असीम सत्य के आगे

'इति' की लकीर न खींचें।

अच्छा हो कि उसके वचनों को शास्त्र का अभिनव रूप
न दिया जाये ।

शास्त्र यों ही क्या कम हैं !

उनकी सूची अब और लंबी न की जाये ।

वह सत्यशोधक भी शब्दों के बहुत ऊहापोह में नहीं पड़ा था ।

तत्त्व-चिंतकों ने शास्त्र को शस्त्र मान लिया था;

और उस शस्त्र द्वारा उन्होंने सत्य की रक्षा की थी !

अद्भुत् है कि सत्य की संरक्षा तर्क करे !

या, निरपेक्ष को प्रकाश दिखाये सापेक्ष !

विवेक को पीठ देकर वे उसके अनुयायी बनने गये थे ।
यात्रा वे उत्तरापथ की करनेवाले थे—
लोग भी ऐसा ही मानते थे, या वे मनवा लेते थे—
पर मुख उन यात्रियों का था दक्षिणापथ की ओर !
प्रयत्न अद्‌भुत था यह, पर अभूतपूर्व नहीं ।
इतिहास पहले भी ऐसी कई यात्राएं देख चुका था ।

: ५९ :

उसका तुम कोरा नाम न जपो,

और न बारबार उसके पादपद्मों का वंदन करो।

पात्र पहले से ही आकंठ भरा है;

उसमें और अधिक न उंडेलो, न जयकार, न नमस्कार।

तुम तो सत्य की शरण जाओ,

अहिंसा की शरण आओ—

यही उस महात्मा के नाम का जप और जयकार होगा,

और यही होगा उसके पादपद्मों का अभिवंदन।

: ६० :

पग-पग पर उसके नाम की दुहाई दी गई।

अनुयायियों ने बुद्धि को इतना पंगु कर दिया कि,

बिना सहारे वे एक डग भी आगे न रख सके।

उसके वचनों के अक्षर, स्वर और मात्राएं तक गिनी जाने लगीं।

झर-झरकर बहते नीर को उन्होंने बांध दिया।

उस प्रकाश-पथ पर पैर न रखा, जिसपर कि

वह महात्मा सारे जीवन चला--

न कभी थका, न कभी हताश हुआ,

और अंत में अपने लक्ष्य को वेधकर आगे-से-आगे बढ़ गया।

: ६१ :

अबतक तो उसके चरण-चिह्नों का गुण-गान ही अधिक
हुआ है।

और उससे भी अधिक उसका भड़कीला विज्ञापन।

चरण-चिह्नों का अनुसरण कहां कितने यात्रियों ने
जीवन-पथ पर किया?

अथवा,

'स्वार्पण' की पूरी तैयारी कितने यात्री कर चुके ?

: ६२ :

उसके अनगिनती उपकारों का पहाड़ सामने खड़ा है।
रेंगते-रेंगते वहां वे जा रहे हैं,
और जैसे उस पहाड़ के तले दबे जा रहे हैं!
वे उसके दिखाये पथ पर दो-चार डग तो भरें,
और उस महात्मा से जो मनों ऋण ले चुके हैं
उसके एक-दो कण तो चुका दें।

वह वह देवता नहीं, जो रत्न-कांचन की भेंट से प्रसन्न
हो जाये;

सस्ती पूजा से वह रीझनेवाला नहीं ।

रत्न, कांचन और सुगंधित मालाएं एक ओर रखदें वे पुजारी ।

बड़े-बड़े उद्यानों और ऊंचे-ऊंचे स्तंभों से भी
वह प्रसन्न होनेवाला नहीं ।

उस देवता का उन्हें पूजन करना है,

तो अपने आपेको खोकर अपने आपको पहचानें ।

तब उसका जय-जयकार बोलें ।

उसकी रीझ का यही एक रास्ता है ।

आंखों पर राजनीति का रंगीन चश्मा चढ़ाकर,
वे उसका यथार्थ रूप देख सकेंगे क्या ?
चश्मा उतार दें वे दर्शनेच्छु—
दृष्टि वैसी-की-वैसी रहने दें, जैसी कि शैशव में पाई थी—
तब उस महात्मा का दिव्य दर्शन पा सकेंगे वे ।
अथवा, वह दृष्टि भी उसीसे मांगलें;
पार्थ को भी तो कृष्ण से दिव्य दृष्टि उधार ही लेनी पड़ी थी ।

: ६५ :

उसके प्रेम का निर्झर निरंतर झर रहा है—
सबके सुख के लिए, सबके हित के लिए।
कोई भी चला जाये उस झरने पर—
घाट सभी के लिए खुला है।
न कोई भेद है, न कोई रहस्य।
कोई भी जाकर प्यास बुझाले उस निर्मल नीर से,
और अपना-अपना जीवन-घट भी भरले,
पर यह देख लिया जाये कि घड़े में कहीं कोई छेद तो नहीं है।

: ६६ :

धन्य हैं वे, जिन्होंने बापू के भरपूर आशीर्वाद पाये—
जिनका रोम-रोम उस वात्सल्य-रस से भीगता रहा !
और धन्य है बारबार उन्हें,
जो अपने हृदय-पात्र को उस अमृतरस के योग्य बना सके !
अमृत तो निरंतर झरता रहा,
पर उन पात्रों में कैसे भरा रहता, जिनमें छिद्र-ही-छिद्र थे !

भक्तों ने कहा—

"तू भी आज सबके साथ उस महात्मा का कुछ
मंगल स्तवन कर ।"

करना चाहा भी, पर कुछ बना नहीं ।

सब कुछ कुंठित हो गया ।

तब स्तवन कैसे होता ?

कुछ था भी, तो उसका कण-कण बिखर गया ।

उन संचित कणों को कोई कहना चाहे तो भले ही स्तवन कहे—

नहीं तो इन उद्गारों में ऐसा क्या है

जो उस महात्मा के चरणों तक पहुंच सके ?